मधुमती

ISSN : 2321-5569

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

वर्ष 60, अंक 8, अगस्त, 2020

150 YEARS OF CELEBRATING THE MAHATMA

राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर

Rajiv@75

मूल्य ₹ बीस

मेरा मन
मेरा मंदिर है :
मैं किसी को भी
अपने गंदे पाँव के साथ
मेरे मन से
नहीं गुजरने दूँगा।

- महात्मा गाँधी

ISSN 2321-5569

मधुमती

वर्ष 60, अंक 8, अगस्त, 2020

UGC Care list Group 'D' Sl.No. 57

प्रधान सम्पादक

विकास सीतारामजी भाले

आई.ए.एस.

सम्पादक

ब्रजरतन जोशी

www.rsaudr.org

email : madhumati.udaipur@gmail.com

मधुमती

वर्ष 60, अंक 8, अगस्त, 2020

UGC Care list Group 'D' Sl. No. 57

प्रधान सम्पादक

विकास सीतारामजी भाले

आई.ए.एस.

सम्पादक

ब्रजरतन जोशी

प्रबन्ध सम्पादक

सचिव, राजस्थान साहित्य अकादमी

आवरण एवं रेखांकन

सुनीता, मो 09461292787

अंक का मूल्य : 20/-

वार्षिक शुल्क : 240/-

(वार्षिक शुल्क धनादेश, बैंक ड्राफ्ट, एटपार चैक या नकद एवं ऑनलाइन हस्तान्तरण की व्यवस्था है। सचिव, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर के नाम से ही भेजें)

प्रकाशक

सचिव, राजस्थान साहित्य अकादमी,

सेक्टर-4, हिरण मगरी, उदयपुर (राज.) - 313 002

दूरभाष : 0294-2461717

मुद्रक

संजय प्रिन्टर्स,

71, महिला मण्डल स्कूल के पास, उदयपुर

मो. 9001000700

- : मधुमती के फेसबुक पेज से जुड़ें : -

https : www.facebook.commadhumatihindi

“मधुमती में प्रकाशित रचनाओं का सर्वाधिकार रचनाकारों के पास है। मधुमती में प्रकाशित लेखों/ रचनाओं में व्यक्त विचार/ तथ्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत हैं। मधुमती में प्रकाशित रचनाओं के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही अकादमी इसके लिए उत्तरदायी है।”

क्रम

संपादक की बात 7

विशेष स्मरण

कविता का कर्मयोगी त्रिलोचन 11
विनोद साही

लेख

कला और आपदा 21
स्कन्द शुक्ल

कोलाहल के जवाब में मौन 30
राजीव रंजन गिरि

निर्मल वर्मा का भारतबोध 38
अंबिकादत्त शर्मा

रामचन्द्र शुक्ल का उपन्यास चिन्तन 49
आनन्द पांडेय

सोच का ताप 68
कश्मीर उप्पल

संस्कृत कविता के भाषिक कौतुक 77
विक्रम जीत

गाँधी का उच्च शिक्षा संबंधी चिन्तन 86
अम्बरीष त्रिपाठी

कहानी

डाटा फ्लो डायग्राम है जिंदगी 94
श्रद्धा थवाईत

कोरोना का कोहरा 102
आशा शर्मा

आकलन

मधुमती पत्रिका और हिन्दी रचनाशीलता 106
शशिभूषण मिश्र

डायरी

हम ही हम तो खेले 112
जयप्रकाश मानस

निर्मल वर्मा का भारतबोध

अम्बिकादत्त शर्मा

बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्यकारों में *निर्मल वर्मा* का नाम अपने देश और अपने देश से बाहर विदेश में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। साहित्य उनके लिए ज्ञान की एक शाखा मात्रा नहीं अपितु ज्ञान की सम्पूर्ण व्यवस्था है। इसीलिए उनकी साहित्य-सर्जना में धर्म, दर्शन, इतिहास, पुराण, संस्कृति, सभ्यता और कला इत्यादि सबके सब विमर्श के विषय बनते हैं। मैं यहाँ उनकी साहित्य-सर्जना के उस पक्ष को उजागर करने का प्रयास करूँगा जो अक्सर लोगों की आँखों से ओझल हो जाता है। *निर्मल वर्मा* की विचार-भूमि का यह पक्ष एक दार्शनिक का है जो साहित्य से प्रमुदित हो कर एक सभ्यता-समीक्षक के रूप में आकार ग्रहण करता है। यद्यपि यह समीक्षा भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक बोध को लेकर है लेकिन भारतीय संस्कृतात्मा का प्रत्यभिज्ञान कराने के लिए उन्होंने यूरोप का पूर्वपक्ष चकित कर देने वाली मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

भारत संस्कृति और सभ्यताओं के बहुध्रुवीय विश्व में एक छोटा-मोटा देश नहीं अपितु आधा ग्लोब है। इसलिए भारत की स्वतंत्रता का मूल्य अन्य उपनिवेशों को मिली राजनीतिक स्वतंत्रता से न केवल भिन्न बल्कि व्यापक और वृहत्तर भी है। अतः भारत के लिए औपनिवेशीकरण से बड़ी समस्या यूरोपीयकरण की है। यदि यह समस्या भारत के लिए है, तो यूरोप के लिए भी एक कठिनाई से कम नहीं।

I

जर्मनी के हैडिलबर्ग विश्वविद्यालय में *अज्ञेय मैमोरियल व्याख्यान* देते हुए उन्होंने *अज्ञेयजी* पर मार्मिक टिप्पणी करते हुए कहा था कि *वे समकालीन भारतीय परिदृश्य में उन विडम्बनाग्रस्त विचारकों में से एक थे जो भारतीयों को घर से बेघर हुए जान पड़ते थे और यूरोपीयों को एक ऐसा भारतीय जिसने अपना घर कभी छोड़ा ही नहीं- (भारत और यूरोप, पृ. 40)*। देखा जाए तो यह बात अज्ञेयजी के लिए जितनी सही है उससे अधिक स्वयं *निर्मल वर्मा* के लिए भी सत्य है। अपने वैचारिक जीवन के प्रारम्भिक दिनों में वे समाजवादी यूरोप की विचार-सरणी से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इसीलिए उनके चिन्तन को मार्क्सवादी गोत्र का कह कर परम्परावादी उनकी आलोचना किया करते थे। परन्तु चेकोस्लोवाकिया प्रवास के दौरान मार्क्सवाद का *हिंसात्मक सत्य* देखकर उनका हृदय कदाचित् रूपान्तरित हुआ। उनके ही शब्दों में *बाद के वर्षों में अनेक उतार-चढ़ाव आए- कम्यूनिस्ट पार्टी में शामिल होना, हंगरी और* चेकोस्लोवाकिया *की घटनाएँ, स्वयं*

भारतीय समाजवादी आन्दोलन से निराशा, किन्तु इन सबके बावजूद यह विश्वास अडिग रहा कि जिस अन्याय और उदासीनता की दुनिया में हम जीते हैं, उससे मुक्ति पाने का विकल्प कहीं अवश्य होगा (दूसरे शब्दों में, पृ. 99)। यही वह विश्वास था जिसके चलते वे भारतीय विश्वदृष्टि की आत्मा को अंतरंग होकर पहचानने में प्रवृत्त होते गए। वस्तुतः भारतीय विश्वदृष्टि की यह अनुपम विशेषता है कि यदि आकस्मात् भी उसके यथार्थ की एक दीप्ति किसी में प्रविष्ट हो जाए, तो वह अन्दर ही अन्दर बदलने लगता है। *निर्मल वर्मा* में हुए ऐसे ही बदलाव के कारण उनके पुराने मित्रों को उनके चिन्तन में दक्षिणपंथी हिन्दू परम्परावाद की गहरी छाप दिखाई देने लगी। एक ही व्यक्ति के जीवन में विचारों का ऐसा कायाकल्प अविश्वसनीय होते हुए भी वास्तव में वैसे सभी बुद्धिजीवियों का खरा सच है जो अंधश्रद्धा से नहीं बल्कि आत्मालोचन की गहन प्रक्रिया से गुजर कर भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक अधिकार बोध में स्वप्रतिष्ठ होने की आकांक्षा रखते हैं। यह आकांक्षा सब में हो, यह जरूरी नहीं, परन्तु वैसे व्यक्तियों के लिए सामान्य कही जा सकती है जिनमें अपने स्वरूप और साथ ही स्वरूप से विस्थापित होने की आत्मचेतना किसी न किसी रूप में बनी हुई है। मानो *नीत्से* की *शाश्वत वापसी* को संज्ञान में रखते हुए इस आकांक्षा पर टिप्पणी करते हुए *निर्मल वर्मा* ने उचित ही कहा है कि *उपनिवेशवाद के कारण उत्पन्न हुए उन्मूलन में एक भारतीय बुद्धिजीवी को कायान्तरण की तमाम अवस्थाओं से गुजर कर ही अपना विश्वसनीय आत्म हासिल हो पाता है (भारत और यूरोप, पृ. 41)*।

द्रष्टव्य है कि *निर्मल वर्मा* के भारत बोध का अन्तरार्थ इसी विश्वसनीय सांस्कृतिक-आत्म को प्राप्त होना है। दूसरे शब्दों में कहें तो - यदि संस्कृति और सभ्यताओं के विश्व इतिहास में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का औचित्य अभी भी शेष है और उसकी दीप्ति से मानवता प्रदीप्त हो सकती है, तो उसे उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करना होगा। इसके लिए भारत के प्रमाणिक सांस्कृतिक-आत्म की तलाश और पहचान जरूरी है, ताकि औपनिवेशिक अज्ञान के अंधकार से उस संस्कृतात्मा को मुक्त किया जा सके, जिसका स्वरूप अत्यंत ही धवल है। *निर्मल वर्मा* इस तलाश और पहचान को *समझदारी की त्रासदी की समस्या* के रूप में देखते हैं। यद्यपि यह उचित ही है, क्योंकि अज्ञान के निराकरण की समस्या समझ की ही समस्या होती है; तथापि किसी भी सभ्यता-विमर्शक को *निर्मल वर्मा* की इस दृष्टि में हायडेग्गर के *प्रोजेक्ट ऑफथॉट* की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ सकती है। परन्तु यदि इसे सही भी मान लिया जाए तो इससे *निर्मल वर्मा* की गवेषणा हायडेग्गेरियन नहीं हो जाती, बल्कि औपनिवेशीकृत भारत की वास्तविक समस्या को विदग्धता के साथ सम्बोधित और उद्घाटित करती है। हायडेग्गर तकनीकी नास्तिकता (मनुष्य पर मशीनी-सभ्यता का अप्रतिहत प्रभुत्त्व) को मानव सभ्यता का सबसे बड़ा खतरा मानते हैं। परन्तु इसे वे मनुष्य की कोई ऐसी नियति नहीं मानते जिससे मुक्त होना सम्भव ही नहीं। वे इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि यह वांछित मुक्ति किसी राजनीतिक कार्ययोजना के द्वारा सम्भव न होकर *प्रोजेक्ट ऑफथॉट* के द्वारा सम्भव है। *(द्रष्टव्य, भारतीयता के सामासिक अर्थ - सन्दर्भ, पृ. 44)*। चूँकि तकनीकी ने हमारी सोच को ही बदल दिया है, इसलिए उस सोच को बदलकर ही हम जीवन और जगत् के उस मौलिक स्वरूप को आत्मसात् कर सकते हैं जो तकनीकी *इन्फ्रेमिंग* से जकड़ा हुआ न हो। क्या ठीक इसी तरह पिछले दो हजार वर्षों के दौरान विदेशी आक्रमणों, ऐतिहासिक उथल-पुथल और विशेषकर औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारत

के परम्परा बोध को धूमिल और कलुषित नहीं कर दिया है? निश्चय ही भारत की आत्मा को एक छद्म आत्म और उसकी चेतना को एक छद्म चेतना में रूपान्तरित कर दिया गया है। इससे उसके स्वरूप और ऐतिहासिक क्रियान्वयन की सातत्यता ही मानो छिन्न-भिन्न हो गई है। अत: यह कोई राजनीतिक समस्या अथवा राजनीतिक आधिपत्य को मात्र स्वीकार कर लेने की समस्या नहीं है। यदि प्रारम्भ में वह राजनीतिक समस्या रही भी हो तो आज धीरे-धीरे यह राजनीतिक समस्या सांस्कृतिक दासता के तौर पर *इण्टरनलायज्ड* हो गई है। अतएव वि-औपनिवेशीकरण के द्वारा भारत के प्रामाणिक आत्म की पहचान और उसे अपने में स्वायत्त करना यदि *निर्मल वर्मा* के लिए वास्तव में समझदारी की समस्या है, तो यह सर्वथा उचित ही है। यदि एक साभ्यतिक राजनीति की ऐतिहासिक साजिश के द्वारा भारतीयों के भारतबोध को बदला गया है तो उस समझ को ही बदल कर हमारी *सनातन वापसी* हो सकती है। *निर्मल वर्मा* अपने विभिन्न औपन्यासिक कृतियों तथा बहुविध वैचारिक एवं साहित्यिक निबन्धों में वस्तुत: प्रामाणिक संस्कृतात्मा में पुर्नप्रतिष्ठ होने की वैचारिक कार्य-योजना को ही विभिन्न स्तरों पर क्रियान्वित करते हैं। इस क्रियान्वयन में वे यूरोप के आत्मखण्डित लेकिन दुर्दान्त अहंकार से ग्रस्त मुखौटे को भी बेनकाब करते हैं और साथ ही साथ उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को भी तार-तार करते हुए विश्लेषित करते हैं जिसमें भारत की आत्मा कई स्तरों पर आत्मविभाजित हुई है। इस उपक्रम में वे भारत के आत्मविभाजित, खंडों को जोड़ने की वकालत नहीं करते बल्कि उसके अखण्ड स्वरूप का संकेत भी करते हैं जो इतने कर्दम-कलुषों के बीच भी अक्षत बना हुआ है।

II

इस प्रकार अपने बरक्स भारत की प्रामाणिक संस्कृतात्मा की पुनर्प्राप्ति की गहरी वेदना ही *निर्मल वर्मा* को भारतीयता के समर्थक बहुतेरे बुद्धिजीवियों से अलग करती है। अपनी इस वेदना से वे एक ऐसी विचार-भूमि निर्मित करते हैं जिसका लक्ष्य औपनिवेशीकरण की बलीयसी प्रक्रिया और उसकी संचालक शक्तियों से जान छुड़ा कर भागना नहीं है, बल्कि उसका सामना करते हुए उसे पार कर जाना या फिर आगे निकल जाना है। दूसरे शब्दों में औपनिवेशिक दासता से भारत की मुक्ति का अभियान प्रतिगामी (रीग्रेशन) तरीके से नहीं बल्कि पुरोगामी (प्रोग्रेशन) तरीके से ही प्रामाणिक तौर पर सम्भव है। द्रष्टव्य है कि अपने समकालीनों में केवल *निर्मल वर्मा* ही ऐसे नहीं थे जो इस समस्या पर इस तरह सोचते थे। साहित्यकारों की टोली में अज्ञेय और सम्प्रति *रमेश चन्द्र शाह* के अतिरिक्त कम से कम दो दार्शनिकों का उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा; जिनसे *निर्मल वर्मा* का चिन्तन बहुत हद तक प्रभावित रहा है। इसमें पहले व्यक्ति *के.सी. भट्टाचार्य* रहे हैं जो वि-उपनिवेशीकरण की फलश्रुति *विचारों में स्वराज* में देखते थे। इस सम्बन्ध में 1929 में हूगली कॉलेज के प्रिंसिपल पद से *स्वराज इन आइडियाज* शीर्षक से दिया गया व्याख्यान बहुत ही दृष्टि-विदारक है। उनके अनुसार *सांस्कृतिक पराधीनता साधारणत: अचेतन प्रकार की होती है। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ, तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना आवांछनीय ही हो, यह आवश्यक नहीं। एक स्वस्थ विकास के लिए यह कभी-कभी जरुरी भी हो सकता है। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक पराभव*

केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्याँकन किए ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं। वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक भूत या प्रेत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है, तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गईं। उसे एक नए जन्म की अनुभूति होती है (द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, 373)। भट्टाचार्य विचारों में स्वराज के माध्यम से जिस नए जन्म की अनुभूति की बात कर रहे हैं, वह वास्तव में अपने आप को फिर से पाना ही है। परन्तु इसके लिए अपने को खोए बिना *अन्य* से संवाद करना और अपने सन्दर्भ में *अन्य* का मूल्याँकन करना तथा उस *अन्य* को सन्दर्भ बनाकर अपने को समझना भी जरुरी है। *निर्मल वर्मा भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र* नामक विशिष्ट निबन्ध में इस उपक्रम को अनोखे ढंग से साधते हैं और मानों *के.सी. भट्टाचार्य* के *स्वराज इन आइडियाज* पर भाष्य-वार्तिक लिखते हुए प्रतीत होते हैं। *के.सी. भट्टाचार्य* के अतिरिक्त वह दूसरे व्यक्ति जड़ावलाल मेहता हैं जो औपनिवेशीकरण की अपहितियों को एक *क्राइसिस ऑफ अण्डरस्टैंडिंग* के रूप में देखते हैं। पारम्परिक और आधुनिक पश्चिम की गहन समझ रखने वाले प्रोफेसर मेहता औपनिवेशीकरण की आत्मपीड़ा को आत्मकथा बना कर कहते हैं कि *मैं इस तथ्य को भुला नहीं सकता कि मैं आज के हिन्दुस्तान के जीवन-संसार का भी भागीदार हूँ और इसके अलावा, इससे परे, पश्चिमी प्रविधि की उस विश्वव्यापी घटना का भी जिसने अब समूची दुनिया को अपने चपेट में ले लिया है: हाइडेग्गर के मुहावरे में वर्ल्ड सिविलायजेशन की शक्ल में। ऐसी परिस्थिति में, मेरे लिए करने को बचता ही क्या है सिवा इसके कि मैं पावनता के अविशिष्ट पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए ऐसी भाषा पाने का प्रयत्न करूँ जिससे वे चिन्ह और वह आदि स्रोत आज अर्थोन्मेषक ढंग से मुखर हो सकें (समेकित दार्शनिक विमर्श, पृ. 98)*। पुन: वे दूसरे प्रसंग से कहते हैं कि *पूर्व में मेरे लिए कोई दूसरा रास्ता खुला नहीं है सिवाय इसके कि यूरोपीयकरण के साथ चलते हुए और उससे परे निकल जाने के विदेश और विचित्र की इस यात्रा से गुजरकर ही हम अपने को दूबारा पा सकेंगे, और इसलिए यहाँ भी हमें उसी चीज तक पहुँचने के लिए जो हमारे बेहद समीप है, एक लम्बा रास्ता पार करना होगा* (*भारत और यूरोप,* पृ. 41 पर उद्धृत)। स्पष्ट है कि *निर्मल वर्मा* का भारत बोध अपने कुछ अतिविशिष्ट समकालिनों की विचार-परम्परा में ही विकसित हुआ है और सभी के इस बोध का उद्देश्य *इमैन्सीपेशन ऑफ ऑथेण्टिक कल्चरल सेल्फ* है।

यूरोप से संवाद करते हुए भारतीय संस्कृतात्मा की प्रामाणिक पहचान के लिए गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। वह यह कि भारतीय विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि का स्वामी नहीं माना जाता। मनुष्य भी चाराचर में तमाम जीवित प्राणियों के बीच महज एक प्राणी ही है। इसके विपरीत यूरोपीय विश्वदृष्टि में बाइबिल (गॉड हैज क्रिएडेट मैन इन इट्स मिनी इमेज टू रूल ऑवर अर्थ...) से लेकर विज्ञान (प्रकृति का विजेता मनुष्य) तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व को बनाए रखा गया है।

III

यहाँ मैंने *निर्मल वर्मा* के अतिरिक्त उनके समकालीन जिन दो सगोत्रीय विचारकों का जिक्र किया है, उनकी वास्तविक चिन्ता को समझने के

लिए औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण के अर्थ और निष्पत्तियों को एक दूसरे से अलग करके समझना जरुरी है। विशेषकर भारत के सन्दर्भ में यह बेहद जरुरी है। औपनिवेशीकरण एक राजनीतिक प्रक्रिया है और उसका लक्ष्य साम्राज्य-विस्तार के लिए परोक्ष-अपरोक्ष रूप से राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करना होता है। यद्यपि इस अर्थ में भी औपनिवेशीकरण यूरोपीयकरण की सवारी अवश्य बनती है। परन्तु यूरोपीयकरण अपने आप में अधिक व्यापक एक सांस्कृतिक-साभ्यतिक प्रक्रिया है। आधुनिकता के नाम पर इसने आज एक बलियसी विश्वसभ्यता का रूप अख्तियार कर लिया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वैसे उपनिवेश जिनकी कोई सांस्कृतिक-साभ्यतिक पहचान नहीं रही हो वे औपनिवेशीकरण से मुक्त केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर हो सकते हैं और इस तरह राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होकर भी वे सभी यूरोपीयकरण की साभ्यतिक प्रक्रिया के अंगभूत बने रहे सकते हैं। अधिकांश उपनिवेश अपनी आजादी के औचित्य का मूल्याँकन इसी दृष्टि से करते हैं। परन्तु क्या भारत का सन्दर्भ भी ऐसा ही है? भारत संस्कृति और सभ्यताओं के बहुध्रुवीय विश्व में एक छोटा-मोटा देश नहीं अपितु आधा ग्लोब है। इसलिए भारत की स्वतंत्रता का मूल्य अन्य उपनिवेशों को मिली राजनीतिक स्वतंत्रता से न केवल भिन्न बल्कि व्यापक और वृहत्तर भी है। अत: भारत के लिए औपनिवेशीकरण से बड़ी समस्या यूरोपीयकरण की है। यदि यह समस्या भारत के लिए है, तो यूरोप के लिए भी एक कठिनाई से कम नहीं। आज तक यूरोप को भी अपने मिशन में भारतीय प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है। परन्तु अपनी कुछ ऐतिहासिक भूलों के चलते आज हमारी प्रतिरोधक क्षमता कमजोर पड़ गई है। फिर से प्रतिरोधी क्षमता अर्जित करने के लिए और इस समस्या से निजात पाने के लिए भारतीय संस्कृति और सभ्यता के *अमृतनाभ* को समझना होगा और साथ ही साथ उसे विषाक्त करने वाले *अंतरंग अन्यों* और *पराए अन्यों* की पहचान भी आवश्यक है। अन्यथा अपने स्वरूप के प्रति मुग्ध बने रहना कोई अच्छी बात नहीं। कोई संस्कृति और सभ्यता जब तक अन्यों के परिप्रेक्ष्य में कठोर आत्मालोचन की प्रक्रिया से नहीं गुजरती है तो वह एक *आलोचक राष्ट्र* में रूपायित नहीं हो सकती। इसके लिए भारत को औपनिवेशीकरण का विरोध राजनीतिक स्तर पर करने के साथ-साथ इसका प्रतिवाद सांस्कृतिक-साभ्यतिक स्तर पर भी करना होगा। औपनिवेशीकरण का सर्वाधिक नकारात्मक और टिकाऊ प्रभाव यह है कि इसने हम सबों में अपनी ही संस्कृति और सभ्यता के प्रति आत्महीनता का भाव पैदा किया है। आज हममें से अधिकांश वही जानते हैं जो हमने यूरोप से सीखा है। हमारे मन में यह बात भलि-भाँति बैठाई गई है कि ज्ञान की सारी जड़ें यूरोप में हैं। यह भी कि भारतीय संस्कृति का विश्व-सभ्यता को कोई योगदान नहीं है। अपने ही स्वरूप के प्रति इस प्रकार के स्मृतिभ्रंश से उबरने के लिए पहले अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रामाणिक बोध को स्वायत्त करना और फिर पूरी दुनिया के अप्रतिहत यूरोपीयकरण के विरुद्ध एक वैकल्पिक सभ्यता-बोध को उपस्थापित करना होगा। *निर्मल वर्मा* के नजरिये से देखें, तो भारत की वास्तविक समस्या यह है कि हम 1947 ई. में राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होकर भी यूरोपीयकरण के अंगभूत बने हुए हैं। आज भारत किसी साम्राज्यवादी सत्ता का उपनिवेश नहीं है, फिर भी वह अपनी संस्कृतात्मा पर यूरोपीय सभ्यता के उस शरीर को प्रत्यारोपित किए हुए है जिसकी आत्मा कबके उसे छोड़कर कर चली गई है। कहा जाता है कि माइकिल एंजिलो की सबसे अधिक सशक्त और उज्ज्वल मूर्तियों में जो गहरे अवसाद के भाव हैं वह इसी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है कि यूरोप के

शरीर से यानी आधुनिक यूरोप के शरीर से उसकी आत्मा छोड़ कर चली गई है।

इसीलिए *निर्मल वर्मा* अपने बहुआयामी विचार-वितान में यूरोपीय सभ्यताबोध के उस पक्ष को बहुत मूलगामी रूप से उजागर करते हैं, जहाँ उसे अकूत-भौतिक उपलब्धियों के बीच *आत्मा विहीन शरीर* और *संस्कृति विहीन सभ्यता* के रूप में देखा जा सकता है। उनके ही शब्दों में- *अपनी समूची भौतिक समृद्धि और वैभव के बाद भी यूरोप आन्तरिक उजाड़ की उस वेस्टलैंड अनुभूति से आक्रान्त लगता है- जो उसके काव्य और कलाओं में बहुविध रूप से मुखरित हुई है, जिसे आगे चलकर हायडेग्गर ने बेघरपन की अनुभूति कहा है* (*भारत और यूरोप, पृ. 73*)। साथ ही साथ वे भारतीय सभ्यता बोध को भी उतने ही मर्मस्पर्शी ढंग से उद्घाटित करते हैं, जिसके चलते आज भी वह तमाम अच्छाईयों- बुराईयों के साथ जीवित है। यह कोई कहने मात्र की बात नहीं कि भारतीय संस्कृति की निरन्तरता का शानी दुनिया में कोई दूसरी संस्कृति और सभ्यता नहीं है। *निर्मल वर्मा* की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का *अमृतनाभ* उसका आत्मपूरित होना है और उसका लक्षण यह है कि वह *अन्य* के सन्दर्भ में अपने को परिभाषित नहीं करता (*भारत और यूरोप, पृ. 56*)। इस लक्षण को ठोस आधार प्रदान करने के लिए भारतीय संस्कृति के कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को देखना समझना रोचक हो सकता है। इसमें पहला यह कि अतीत में भारत जैसा भी रहा हो, लेकिन उसकी ख्याति कभी यह नहीं रही कि पराए देशों में अपने प्रसार के लिए उसने कोई जोखिम उठाए हों - न धर्मान्तरण की आकांक्षा से और न ही पराए देशों को जीतने की इच्छा से ही भारत ने विश्व में अपनी उपस्थिति दर्ज की है। क्या यह विलक्षण बात नहीं कि बिना किसी सैन्य आक्रमण या युद्ध किए एशिया के व्यापक भू-भागों पर भारतीय संस्कृति फैल सकी, जिसे हम *विशाल भारत* की संज्ञा से जानते हैं (*भारत और यूरोप, पृ. 42*)। दूसरी बात यह कि भारतीयों में दूसरी संस्कृतियों और सभ्यताओं को जानने की उत्सुकता इतिहास के लम्बे अन्तराल में भी दिखाई नहीं पड़ती। यदि कोई भारतीय बाहर गया भी तो जानने की जिज्ञासा से नहीं गया। *निर्मल वर्मा* के ही शब्दों में -*हिन्दुओं और उनके प्राचीन रीति-रिवाजों को जानने की अपनी जिज्ञासा के लिए यूनानियों और चीनी यात्रियों और बाद में मुसलमान इतिहासकारों के इतिवृत्तों से हम भले ही जान लें कि वे भारत और भारतीयों के बारे में क्या सोचते थे, लेकिन यहाँ के लोग बाहर से आए मेहमानों और उनकी संस्कृति के बारे में क्या सोचते थे, यह जानने के लिए हमारे पास कोई दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। यहाँ तक उन मुसलमानों के विषय में भी नहीं जिनके साथ वे बहुत लम्बे समय तक रहे, जिन्होंने उनकी नियति पर सर्वशक्तिमान प्रभुता और धार्मिक विचारधारा से शासन किया, जिसकी वे किसी भी स्थिति में अवहेलना नहीं कर सकते थे। न ही पारम्परिक हिन्दू ग्रंथों में हम उलेमाओं से हुए दार्शनिक और धार्मिक शास्त्रार्थों का कोई विवरण पा सकते हैं। यह इसलिए और भी विचित्र लगता है, जब हमें यह मालूम हो कि अपनी अनेक अन्य कमजोरियों के बाबजूद हिन्दू पण्डित खण्डन-मण्डन के मामले में कभी पीछे रहे हों। जिस बौद्धिक प्रचंडता के साथ अपने बौद्ध प्रतिद्वन्द्वियों और बाद में कुछ हद तक ईसाई मिशनरियों के साथ शास्त्रार्थ किए थे, वे इसके ज्वलंत उदाहरण हैं* (*भारत और यूरोप, पृ. 43*)।

II

हिन्दुओं की दूसरी संस्कृतियों और धर्मों के प्रति इस चुप्पी और उदासीनता का कारण अक्सर दूसरों के प्रति उनकी जिज्ञासा के अभाव में देखा -

समझा जाता है। इसका एक दूसरा कारण यह भी हो सकता कि भारतीयों ने पहले ही एक ऐसी आत्मनिर्भर और आत्मपूरित व्यवस्था तैयार कर ली थी जो जीवन और जगत् की तमाम जरुरतों, जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम थी। अत: उन्हें दूसरी संस्कृतियों से कुछ सीखने की आवश्यकता जान नहीं पड़ी, जबकि *आनोभद्रा क्रतवो यन्तु विश्वत: उनकी खुली जिज्ञासा का आदर्श था। निर्मल वर्मा भारतीयों की इस प्रवृत्ति की व्याख्या विचार की एक भिन्न कोटि में करते हैं। यह कोटि सांस्कृतिक मनोविज्ञान की कोटि है जो सांस्कृतिक- साभ्यतिक चरित्र और व्यवहार को समझने की बहुत कारगर और गहरी दृष्टि प्रदान करती है। निर्मल वर्मा के अनुसार (भारतीयों का) अन्य संस्कृतियों के प्रति उदासीनता का एक अधिक गम्भीर कारण भी था, वह यह कि उनके लिए अपनी अस्मिता को परिभाषित करने का सन्दर्भ कभी अन्य रहा ही नहीं, जैसे कि यूरोपियों के लिए था। आत्म को हमेशा आत्म-सन्दर्भी रूप में स्वीकारा गया। अन्य उनकी अस्मिता के लिए न तो कोई खतरा था और न ही उनकी अद्वितीयता का स्रोत। अन्य की उनकी अवधारणा यूरोपीय संस्कृति की इस अवधारणा से बिलकुल भिन्न थी। अपने से हमेशा अलग, एक बाहर की वस्तु; आतंक का स्रोत और आकांक्षा की वस्तु दोनों एक साथ। सार्त्र की प्रसिद्ध उक्ति दूसरे-वे नर्क हैं हेगल की सशक्त प्रतिध्वनि मालूम देती है, जहाँ आत्म हमेशा अन्य के विरुद्ध ही अपनी अस्मिता को परिभाषित करता है। एक ऐसा अन्य जिसे या तो अधिगृहीत किया जा सकता है या फिर नष्ट ही किया जाना चाहिए (भारत और यूरोप, पृ. 44)*।

अन्य की भारतीय और यूरोपीय अवधारणा का जैसा अन्तर *निर्मल वर्मा* ने किया है वह दोनों परम्पराओं की दार्शनिक दृष्टि से भी संगत है। भारतीय दर्शन में चेतना स्वसंवित् या स्वयंप्रकाश होने से अपने तात्त्विक स्वरूप में ही स्व-संदर्भी है जबकि यूरोपीय दर्शन में चेतना का मतलब ही *ऑफ कॉन्शसनेस* होने से वह सदैव पर-संदर्भी ही होती है। परन्तु पर-संदर्भी आत्मचेतना के संदर्भ में *अन्य* की यूरोपीय अवधारणा अपने आप में बड़ा ही द्वंद्वात्मक है। यदि *अन्य* को वह पूरी तरह अपने वश में कर लेता है तो स्वयं उसकी अस्मिता संदेहास्पद हो जाती है। यद्यपि वह *अन्य* को नष्ट करके ही पूर्ण होना चाहता है, लेकिन बिना *अन्य* के वह कुछ भी नहीं रहता। बिना *अन्य* के कुछ नहीं होना यानी सार्त्र का *नथिंगनेस*। अत: यूरोपीय संस्कृतियों के लिए *अन्य* अपनी *असमावेशी अन्यता* में ही जिज्ञासा का विषय बनता है, जबकि भारतीयों के लिए *अन्य* जब तक किसी तरह अपने या अपने तंत्र में समाविष्ट न हो तो वह एक ऐसा सम्बोधी बन ही नहीं सकता जिससे अर्थपूर्ण संवाद किया जा सके। हिन्दू परम्परा के लिए बौद्ध ऐसे ही *अंतरंग अन्य* थे। इसीलिए ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच एक हजार से अधिक वर्षों तक शास्त्रार्थ चला और दोनों एक दूसरे को भरपूर सम्बोधित कर पाए। बौद्ध पराए होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से समानतंत्री थे। उनका परायापन धार्मिक दृष्टि से भले ही असमावेशी हो लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से वे उसी तरह अंतरंग रहे जिस तरह भारतीय संस्कृति के अंतरंग शैव, शाक्त और वैष्णव रहे हैं। यदि बौद्ध सांस्कृतिक स्वायत्तता का दावा किए होते तो कठिनाई जरूर होती, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। इसीलिए *निर्मल वर्मा* का यह कथन बहुत ही समीचीन है कि बौद्ध धर्म भारत में लुप्त नहीं लीन हो गया (भारत और यूरोप, पृ. 45)। परन्तु यही बात भारत के इतिहास में मुसलमानों और ईसाईयों के लिए नहीं कही जा सकती। इन दोनों की *अन्यता* धार्मिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से हिन्दू

परम्परा के लिए *असमावेशी अन्य* की कोटि में आता है। यही कारण है कि ये दोनों धर्म व्यापक धर्मान्तरण करवाने के बाद भी भारत में संस्थाबद्ध तो हैं लेकिन संस्कृतिबद्ध नहीं हो पाए हैं। इस देश में धर्मान्तरण तो बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर भी करवाए, लेकिन बौद्ध पक्ष में यह धर्मान्तरण बाबा साहब के द्वारा किया गया *इण्डोसमोशिस* कृत्य ही था। अत: नवबौद्ध भी भारतीय संस्कृति के लिए असमावेशी अन्य नहीं अपितु अन्तरंग अन्य ही हैं। भारत में दलित आन्दोलन की सफलता का राज भी यही है कि यह आन्दोलन उस वर्ग द्वारा सांस्कृतिक-पहचान की माँग थी, जो भारतीय संस्कृति का अंतरंग अन्य है।

यूरोपीय सभ्यता के बरक्स भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता को संज्ञान में लेना यहाँ बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। यह विशेषता यूरोप से संवाद करते हुए भारतीय संस्कृतात्मा की प्रामाणिक पहचान के लिए गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। वह यह कि भारतीय विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि का स्वामी नहीं माना जाता। मनुष्य भी चाराचर में तमाम जीवित प्राणियों के बीच महज एक प्राणी ही है। इसके विपरीत यूरोपीय विश्वदृष्टि में बाइबिल (गॉड हैज क्रिएडेट मैन इन इट्स मिनी इमेज टू रूल ऑवर अर्थ...) से लेकर विज्ञान (प्रकृति का विजेता मनुष्य) तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व को बनाए रखा गया है। यही वह अन्तर है जिसके चलते इतिहास की भारतीय दृष्टि मानवीय अतीत की अवधारणा के घेरे में बँधी नहीं रह जाती, बल्कि समस्त चराचर के अतीत से जुड़ जाती है। आश्चर्य है कि यूरोपीय मनुष्य द्वारा विकसित विज्ञान और तर्कणा की भाषा आज तक इस विशाल, जीवन्त और रहस्यपूर्ण मानवेतर संसार से सम्प्रेषण करने का कोई भी रास्ता सुझाने में निष्फल रही है। *निर्मल वर्मा* के शब्दों में कहें तो *मानवीय संसार का मानवेतर संसार से अलगाव यूरोपीय सभ्यता का सबसे त्रासद आयाम रहा है, जिसने गोएटे को यह कहने के लिए विवश किया कि हर अलगाव में विक्षिप्तता के बीज हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम उसे पनपने न दें (भारत और यूरोप, पृ. 79)*। इस अलगाव से यूरोपीय आत्मा की लहू-लुहान विक्षिप्तता ही होल्डरीन और रिल्के की काव्य और कलाकृतियों में दिखाई पड़ती है।

> *भारत और यूरोप के बीच ऐतिहासिक दुरभिसंधि का यही वह स्थल है जहाँ से आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप की भारत को प्राधिकृत करने की अपनी-अपनी कार्ययोजना शुरू होती है। एक के लिए वास्तविक भारत पुरातात्त्विक स्थल से ज्यादा कुछ नहीं, जहाँ से उसके बौद्धिक और आध्यात्मिक वैभव, उसके प्राचीन दर्शन और महान साहित्यों को खोदकर ही निकाला जा सकता था। दूसरे के लिए वास्तविक भारत ऐतिहासिक भौतिकवाद के जर्जरित सामान्तवाद के सोपान पर उसकी प्रयोग भूमि बनने के लिए अभिशप्त था।*

इसके ठीक विपरीत भारतीय जीवन-दृष्टि को इस अलगाव का सामना इसलिए नहीं करना पड़ा कि उसने मानवेतर संसार से कभी अपने *मिथिकीय* सम्बन्धों को त्यागा नहीं। इस जीवन-दृष्टि के लिए इस अलगाव पर विश्वास करना मुश्किल है जिसमें जीवन एक रूप से दूसरे के बीच पुनर्जन्मों और कायान्तरों की एक अटूट शृंखला है, जहाँ हर जीव के भीतर दूसरे के रहस्योद्घाटन की कुँजी छिपी है। भारतीय दर्शन, धर्म और नीति इत्यादि के द्वारा मनुष्य और प्रकृति, मानवीय और मानवेतर संसार के बीच

के सम्बन्धों के रहस्यों को ही खोलने के बहुविध प्रयास किये गए हैं। *देवंभूत्वा देवं यजेत्* के वैदिक आदर्श से लेकर *आत्मवत् सर्व भूतेषु* के औपनिषद् आदर्श में यह गहरे प्रतिध्वनित होता है। प्रत्येक भारतीय के लिए *ऋणत्रय* की व्यवस्था और प्रतिदिन पंच महायज्ञों का विधान मानवीय और मानवेतर सृष्टि के बीच सामरस्य स्थापित करने का ही तो कर्त्तव्य विधान है। *निर्मल वर्मा* इस भारतीय दृष्टि का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए उचित ही कहते हैं कि *प्रकृति रहस्यपूर्ण है, जैसा कि हर अन्य सत्ता होती है। लेकिन उससे आतंकित होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह मनुष्य का एक अंश भी है – मानवीय प्रकृति, उसका स्व-स्वभाव (भारत और यूरोप, पृ. 80)*। ऐतरेय उपनिषद् में मनुष्य और प्रकृति, बाह्य और आन्तर की स्वभावगत एकता को ही तो यह कहते हुए प्रतिध्वनित किया गया है कि– *अग्निर्वाग भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायु: प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुषी भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिश: श्रोतंभूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औषधिवनस्पतयो भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशत्।* भागवत पुराण में भी चराचर सृष्टि के अविरोध को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि – *अहस्तानि सहस्तानां अपदानि च चतुष्पदां, फल्गुनि तत्रा महतां, जीवो जीवस्य जीवनम्।* लेविस्त्रास ने ऐसे ही अन्तर्दृष्टियों को सम्भवत: *एंकर प्वाईंट्स ऑफ इस्टर्न कल्चर* यानी पूर्वी संस्कृतियों के सम्पर्क सूत्र कहा है। परन्तु बिडम्वना यह है कि यूरोपीय सभ्यता ने इन सम्पर्क सूत्रों से जुड़ना कभी स्वीकार नहीं किया। इसे पश्चिमी मन का अहंकार कहा जाए या दम्भ कि वह पौर्वात्य अनुभव के सहयोग से अपने परिष्कार के लिए कभी तैयार नहीं होता।

IV

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का एक और विलक्षण लक्षण उसके इतिहास बोध में निहित है। ऐसा इतिहास बोध जिसमें अतीत कोई बीती हुई याद न होकर मेंहदी की तरह वर्तमान में रची-बसी रहती है। यह कोई ऐसी ऐतिहासिक स्मृति नहीं जैसी यूरोपवासियों की इतिहास-चेतना में ग्रीस की सभ्यता एक निर्जीव स्मृति मात्र है और जिसे वह पुस्तकों अथवा संग्रहालयों में याद तो कर सकता है लेकिन उसके वर्तमान को वह सम्बोधित नहीं करता। परन्तु, *निर्मल वर्मा* के शब्दों में, *भारतीय सभ्यता की यह अद्भुत विशेषता रही है- जो उसके जीवन्त होने की मर्यादा है- कि वह अतीत को व्यतित न मानकर उसे समकालीन की प्रतीकव्यवस्था में संयोजित कर पायी है, जो आज भी उतनी ही अर्थवान और संस्कार सम्पन्न है जितनी पहले कभी थी (भारत और यूरोप, पृ. 15)*। ऐसी इतिहास दृष्टि में ही पूर्वज बोध माता-पिता से लेकर ईश्वर तक विस्तार पाता है। तभी तो कृष्ण पूर्वजों में अपने को *अर्यमा* कहते हैं। संस्कृतात्मा की उत्तरजीविता के लिए निश्चय ही ऐसी दृष्टि स्वागत योग्य है और आत्मचेतन मनुष्य के लिए संगत भी है, परन्तु वह संस्कृतात्मा अतीत की मलिनताओं से मुक्त अपने धवल स्वरूप में वर्तमान को सम्बोधित करे, इसके लिए एक विशेष प्रकार की आत्मालोचक आत्मचेतना न्यूनाधिक रूप में स्वाभाविक रूप से सक्रिय होती है। इसीलिए अतीत की बुराईयों से वर्तमान दोषयुक्त भी होता है और परिष्कार तथा प्रक्षालन की प्रक्रिया भी साथ-साथ चलती है। भारतीय इतिहास में संस्कृतात्मा का ऐसा जीवन-चक्र स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। परन्तु आधुनिक यूरोप की इतिहास-चेतना वर्तमान और अतीत में सीधा-सीधा भेद करती है। इसमें उस सूत्रात्मा का नितान्त अभाव है जो वर्तमान को उसके अतीत से जोड़

सके। एक आधुनिक यूरोपीय के लिए अतीत मानो जड़ वस्तु है और उससे उत्तरोत्तर अपने को काटते जाना ही प्रगतिशील वर्तमान है। द्रष्टव्य है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता अपने इन्हीं गुण-लक्षणों के चलते यूरोप के लिए सदैव ही विस्मयबोधक बना रहा है। उसकी विश्वदृष्टि के साँचे में यह समायोजित नहीं हो पाता। इस सन्दर्भ में *निर्मल वर्मा* की टिप्पणी बड़ी सटीक है कि *भारतीय सभ्यता का अस्तित्व पश्चिम के लिए एक विडम्बना, एक पहेली, एक विरोधाभास जान पड़ता रहा है। यदि वह यूनान और मिस्र की सभ्यता की तरह महज ऐतिहासिक स्मृति का अवशेष होती तो वह मृत किन्तु मूल्यवान सत्य हो सकती थी, यदि वह एक अफ्रीकी या लातिन अमरीकी कबीले की तरह कुछ प्रागैतिहासिक प्रथाओं का पुँज मात्रा होती, तो हजारों नृतत्वशास्त्री इसकी चीरफाड़ करने यहाँ पहुँच जाते, या फिर अगर वह अपने को किसी धर्म विशेष में सिकोड़ कर एक असहिष्णु सम्प्रदायगत राष्ट्र में बदल देती, तो भी वह ईरान या पाकिस्तान की तरह स्वीकार्य हो सकती थी* (*भारत और यूरोप, पृ. 14*)। परन्तु कठिनाई यह है कि परम्परागत भारतीय सभ्यताबोध को न तो उस ढाँचे में ढाला जा सकता है, जिसमें वर्तमान सदैव अतीत से अपने को वियुक्त करने में फलित होता है और न ही इसे मजहब, कबीले या आधुनिक राष्ट्र-राज्य की किसी बनी बनाई श्रेणी में संकुचित किया जा सकता है। अत: एक ओर आधुनिक यूरोप द्वारा अपने दर्पण में भारत की आत्मछवि को देखना उसकी इतिहास-दृष्टि की मानो प्रागनुभविक विवशता है तो दूसरी ओर इस इतिहास-दृष्टि को चश्मा बना कर भारतीय संस्कृति और सभ्यता को समझना एक सरासर बेमानी है। यही कारण है कि आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप दोनों के पैरोकारों ने भारत की तस्वीर को अपने-अपने तरीके से प्रतिरूपण किया, जो उसके समृद्ध और गौरवशाली अतीत से कटी हुई थी। इस तरह वास्तविक भारत दोनों की आँखों से ओझल ही बना रहा, क्योंकि वह इनकी आँखों में समा ही नहीं सकता था। यह बात ठीक वैसे ही है जैसे पराए अजनबी को किसी शहर के वासी हमेशा एक *भीड़* दिखाई देते हैं, उस भीड़ की लय और अन्तर्धारा का रहस्य सिर्फ उस नगर का वासी ही जानता है (भारत और यूरोप, पृ. 21)। क्या भारत के प्रति यह एक अजनबी-दृष्टि नहीं कि हेगल अपनी यूरोकेन्द्रित अवधारणात्मक योजना में भारत को आत्मचेतना के विकास में स्वप्निल अवस्था मानते हैं और यूरोप को आत्मचेतना की शीर्ष अवस्था में प्रतिष्ठित करते हैं। क्या भारतीय संस्कृति को समान्तवाद की जर्जरित मरणासन्न स्थिति में देखना मार्क्स की अपनी इतिहास-दृष्टि की मजबूरी नहीं है? वस्तुत: आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप के कायदेआजम हेगल और मार्क्स अपनी-अपनी इतिहास-दृष्टि के चलते ही भारत की नियति पर अपनी-अपनी टिप्पणियों में टाँक देते हैं। हेगल का विश्वास था कि भारत तभी अपने को एक बार फिर मूर्तिमान कर सकेगा जब वह अपने अतीत को यूरोपीय वर्तमान में ढालेगा। इसी तरह मार्क्स की दृष्टि में भारत अपनी नियति को ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रक्रिया से गुजर कर ही प्राप्त हो सकता है।

V

अवधेय हो कि भारत और यूरोप के बीच ऐतिहासिक दुरभिसंधि का यही वह स्थल है जहाँ से आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप की भारत को प्राधिकृत करने की अपनी-अपनी कार्ययोजना शुरू होती है। एक के लिए वास्तविक भारत पुरातात्त्विक स्थल से ज्यादा कुछ नहीं, जहाँ से उसके बौद्धिक और आध्यात्मिक वैभव, उसके प्राचीन दर्शन और महान साहित्यों को खोदकर ही निकाला जा सकता था। दूसरे के लिए वास्तविक भारत

ऐतिहासिक भौतिकवाद के जर्जरित सामान्तवाद के सोपान पर उसकी प्रयोग भूमि बनने के लिए अभिशप्त था। इस तरह भारत की एक ऐसी आत्मप्रतिमा निर्मित हुई जिसके अतीत और वर्तमान में बहुत चौड़ी सांस्कृतिक फाँक की दरार पड़ी हुई थी। इसी दरार को पैदा कर उसे उसके सुदूर अतीत से काटकर *प्रोजेक्टेड वर्तमान* की दहलीज पर यूरोपीय वर्तमान से प्रतिकृत होने के लिए तैयार किया जाने लगा। एक ओर उसका अपराजेय अतीत, जिससे उसका वर्तमान प्रतिध्वनित नहीं हो रहा था तो दूसरी ओर उसका आसन्न वर्तमान जो पूरे तौर से यूरोप द्वारा प्राधिकृत किए जाने हेतु चतुर्दिक रूप से सम्बोधित हो रहा था। इस तरह आधुनिक भारत आत्मप्रतिमा के संकट से ग्रस्त एक सांस्कृतिक-संकट वाले देश में रूपान्तरित हो गया। अतः यदि हम वास्तविक भारत के इस वास्तविक संकट को समझते हैं, तो किसी भी भारतीय के लिए अपने विश्वसनीय आत्म को हासिल करना, प्रामाणिक संस्कृतात्मा में पुर्नप्रतिष्ठ होना सबसे जरुरी कार्ययोजना हो जाती है। *निर्मल वर्मा,* वास्तव में, अपने सम्पूर्ण साहित्यिक उपक्रमों से इसी कार्ययोजना को *प्रोजेक्ट ऑफअण्डरस्टैंडिंग* के रूप में साधते हैं। यह कार्य एक जटिल वाद्ययंत्र के सुर मिलाने जैसा है। इसका फल संस्कृतात्मा के निःशंक, निर्द्वन्द्व और निर्भ्रान्त बोध में प्रतिष्ठित होकर उसे क्रियान्वित करना है। ऐसा क्रियान्वयन जिसे आत्मक्रियान्वयन से अभिहित किया जा सके। *निर्मल वर्मा* द्वारा साधे गए इस उपक्रम के औचित्य को *श्रीमद्भगवतगीता* के सन्दर्भ में भी आत्मसात् किया जा सकता है। *गीता* भी एक *प्रोजेक्ट ऑफअण्डरस्टैंडिंग* ही है। उसका लक्ष्य भी विषादयुक्त अर्जुन को प्रामाणिक आत्मबोध और धर्मबोध में प्रतिष्ठित कर उसकी प्रस्थिति और भूमिका को तय करना है। यदि गीता का *प्रोजेक्ट ऑफअण्डरस्टैंडिंग* एक धर्मयुद्ध में क्रियान्वित हो सकता है, तो भारतीय संस्कृतात्मा की अभ्रान्त समझ की कार्य-योजना भी औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण के प्रतिवाद का सामर्थ्य प्रदान कर सकती है। अतः भारत की प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान द्वारा इस सामर्थ्य को हासिल करना ही आज समस्त भारतीयों का आधुनिक स्वधर्म है।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

* *निर्मल वर्मा,* भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991
* *निर्मल वर्मा,* दूसरे शब्दों में, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1997
* अम्बिकादत्त शर्मा, भारतीयता के सामासिक अर्थ - सन्दर्भ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015
* समेकित दार्शनिक विमर्श, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (म.प्र.), 2005
* भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (म.प्र.), 2006

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, 470003 (म.प्र.)
मोबा. 9406519498,
ई-मेल- theadsharma@gmail.com